

मुख्यधारा के यर्थाथ

- ओम प्रकाश वाल्मीकि

मुख्यधारा क्या है? इस शब्द का प्रयोग राजनीति, विकास, साहित्य आदि के संदर्भ में अधिक होता है, विशेष रूप से अल्पसंख्यकों, आदिवासियों और दलितों के संदर्भों में, मुख्यधारा से आशय क्या है? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है, यदि साहित्य के अर्थों में 'मुख्यधारा' शब्द और उसके यर्थाथ की विवेचना करें तो अर्थ भ्रामकता पैदा करते हैं। साथ ही अनेक प्रश्न भी उभर कर सामने आते हैं, जिससे कई प्रकार की ध्वनियाँ निष्कर्षों के साथ सामने आती है, जैसे मुख्यधारा यानि वर्चस्ववादी शक्तियों द्वारा निर्मित धारा या फिर समय के साथ चलने वाली धारा या समय से कटी धारा, या सत्ता शिखर पर बैठे समूह विशेष की धारा, साहित्य के संदर्भ में उस साहित्य की धारा जिसका प्रयोजन आनन्द, अर्थ, काम और मोक्ष है? या ऐसे लोगों की धारा जिन्होंने 'वर्ण-व्यवस्था' का इस्तेमाल एक विशेष समूह को दासता की गिरफ्त में जकड़ कर धारा से बाहर धकेल दिया, ऐतिहासिक संदर्भों से देखें तो उन्हें विकास प्रक्रिया से बाहर कर दिया और वापसी के तमाम रास्ते बंद कर दिये, घेरे के बाहर कर दिये गये लोगों की अस्मिता, सांस्कृतिक पहचान को छिन्न-भिन्न कर दिया, क्या इसे मुख्यधारा कहा जाये? ऐसी मुख्यधारा जिसके लिए 15-16 करोड़ लोगों को अपने मनुष्य होने की लड़ाई लड़नी पड़े। मुख्यधारा एक वर्ण विशेष (वर्ग नहीं) की इच्छाओं-आकांक्षाओं से उत्पन्न मान्यताओं व स्थापनाओं, की धारा और जब इस धारा के लिये दलित को अपने वजूद के लिये संघर्ष करना पड़े, तब यह मुख्यधारा बेहद खूंखार और निर्दयी होकर अपने तमाम दाँव-पेंचों, कलाबाजियों, बौद्धिक विमर्शों, साहित्य शिल्पों के साथ दीवार की तरह खड़ी हो जाती है और दलित के अस्तित्व को ही नकार देती है, उसके साथ छल करती है, उसे ठगती है, उसे खारिज करती है, या फिर दोगम या उससे भी नीचे का दर्जा देकर अपना पिच्छलगू बनाने में सफल हो जाती है। जिसका सीधा अर्थ है दलित का मनुष्य होना यानि बेमानी होना है, इसीलिये एक दलित के माथे पर खोदा गया जातीय हीनता बोध और हजारों साल की दग्ध जिन्दगी उसे सहज और सामान्य नहीं होने देती। इस हीनता बोध से सामान्य होने की प्रक्रिया लगातार खण्डित होती है। जिस पर यह मुख्यधारा चुप्पी साधे हुए है।

घेरे के बाहर रहने की उसकी छटपटाहट ने दलित साहित्य की एक ऊर्जावान धारा को जन्म दिया है, जो तथाकथित इस मुख्यधारा से विपरीत ध्रुवों पर खड़ा है। कंवल भारती, असंग घोष, नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम आदि रचनाकारों ने इस धारा को अपनी अस्मिता की तलाश के लिये चुना है। इस धारा का निर्माण एक दिन में नहीं हुआ है। यह एक लम्बी संघर्ष-यात्रा है जो बुद्ध, फुले और अम्बेडकर से होते हुये यहाँ पहुँची है। गैर बराबरी के दावानल में झुलसते सुलगते, संघर्ष करते लोगों के सांस्कृतिक टकराव से यह धारा सुदृढ़ हुई है।

समाजशास्त्रीय पहलुओं को यदि ध्यान में रख कर देखा जायें तो समुचा दलित समाज अपनी जीवन्तता के कारण हजारों साल से जूझ रहा है हिन्दू धर्मग्रन्थों में चाण्डाल, अस्पृश्य, अंतः वासिन, अब्यज, पंचम, डोम आदि को मानवीय गरिमा से बाहर रखा गया। उनकी तुलना कुत्तों और अन्य जानवरों से की गयी। मानवीय अधिकारों से प्रताड़ित करके उसके अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाये गये। ऐतिहासिक कारण जिस दलित साहित्य के नियामक बने। उसकी जड़े मराठी, गुजराती, तेलगू, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं में बहुत गहरी हैं, इसीलिये दलित चीख कर कहता है-

तुम्हारे रचे शब्द

तुम्हें ही डसेंगे

साँप बनकर

-ओमप्रकाश वाल्मीकि, बस्स! बहुत हो चुका (कविता-संग्रह से)

मुख्यधारा की दार्शनिक और आध्यात्मिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुये दलित कविता प्रश्न खड़े करती है-

चूहड़े या डोम की आत्मा

ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है

मैं नहीं जानता

शायद आप जानते हो!

-ओम प्रकाश वाल्मीकि, बस्सू ! बहुत हो चुका, (कविता संग्रह से)

साहित्य की यह धारा अपने आदर्शों, मान्यताओं के प्रति गहरी सोच और संवेदनाओं के साथ दृढ़ है, तभी तो दलित कविता में यह स्वर साफ सुनाई पड़ता है-

रोक लेती मेरे कदमों को

बेड़ी बन कर

मेरे पूर्वजों की सीख

हिंसा नहीं है

हिंसा का जवाब!

- जय प्रकाश कर्दम, 'किले' कविता से

क्योंकि यह धारा बुद्ध की मानवीय चिंताओं को अपने भीतर संजोये हुए है। घृणा करने वाले से भी घृणा नहीं करने की सीख देती है। दलित साहित्य में जन्मना जातिगत पूर्वाग्रहों के खिलाफ विद्रोह का भाव है। सामाजिक धार्मिक जीवन में स्थापित मूल्यों को खंडित करने की चेतना है। इसीलिये लम्बी दासता से भरे जीवन की अमानवीय स्थितियों से मुक्त होने की छटपटाहट दलित साहित्य में बखूबी देखी जा सकती है। समाज में व्याप्त असमानता और भेदभाव मुख्यधारा की अराजकता से पैदा हुए हैं। इसीलिये अराजकता के सामने मुट्ठी भींच कर जब दलित खड़ा होता है तो इस स्थिति का चित्रण दलित कविता में उत्कर्ष पर होता है-

अंधेरे ने सूर्य देखा तब

शब्द गरज उठे

नरक के कैदखाने में

कब तक यहां रहेंगे हम?

सांस घुटते हुए

हिन्दी आलोचना में एक ऐसा वर्ग है जो अभी भी दलित साहित्य के प्रति शंकाग्रस्त है। यह वर्ग उपदेशक की भूमिका में होता है और उन तमाम विमर्शों को अनदेखा करके बार-बार उन्हीं बातों को दोहराता है, जो गत वर्षों से चर्चा में हैं। जिनमें लम्बी बहसे हो चुकी हैं। डॉ० पी०एन० सिंह कहते हैं- 'बार-बार महसूस होता है कि दलित रचनाकारों और विमर्शकारों ने गांधी जी और प्रेमचन्द को उनके समय के संदर्भ में देखने-परखने की चेष्टा नहीं की। उन्होंने यह भी देखने-परखने का प्रयास नहीं किया कि प्रेमचन्द के बाद नागार्जुन, निराला, अमृतलाल नागर, विवेकी राय, गिरिराज किशोर आदि लेखकों ने भी इस दिशा में काम किया है। मैंने जहाँ तक पढ़ा-समझा है, अभी तक हिन्दी कथा-साहित्य में दलित के व्यक्तित्व का न विवेकी राय के 'बबूल' (1983) जैसा मार्मिक अंकन है और न प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' (1925) जैसा औदात्य-निरूपण हुआ है। लेकिन दलित साहित्यकार भी बाबा साहब की राजनीतिक रेटॉरिक में बँट गये हैं।'

डॉ० पी० एन० सिंह दलितों को एक उपदेशक की तरह ट्रीट कर रहे हैं। दलित रचनाकारों के दृष्टिकोण को नजरअंदाज करते हुये गांधी-अम्बेडकर-प्रेमचन्द के समय के 'पूना पैक्ट' (24 सितम्बर 1935) और उससे जुड़े तथ्यों को भी अनदेखा कर देते हैं। वे जिसे बाबा साहब की राजनीतिक रेटॉरिक बता रहे हैं- वही तो दलितों की चेतना का उदगम बिंदु हैं जिसे डॉ० पी०एन० सिंह समझने का प्रयास ही नहीं करते हैं। वे अपनी धारणाओं, मान्यताओं से हटकर किसी विमर्श की कल्पना भी नहीं कर पा रहे हैं। उनकी धारणाओं, मान्यताओं से हट कर भी साहित्यिक विमर्श हो सकता है या होना चाहिये। यह डॉ० पी० एन० सिंह की सोच और परिधि से बाहर की बात है। रंगभूमि का नायक सूरदास, गाँधीवादी विचारों का प्रतिबिम्ब है न कि अम्बेडकर चेतना का। इस अंतर को जानना - समझना जरूरी है। तभी किसी सही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। इस अंतर को समझे बगैर दलित साहित्य की अंतः चेतना को नहीं समझा जा सकता है। दलित चेतना के मूल में डॉ० अम्बेडकर विचार-दर्शन है। जो गाँधी के सुधारवादी दृष्टिकोण से भिन्न है। डॉ० पी० एन० सिंह इसी अतिरंजना के शिकार हैं और यही है मुख्यधारा की अभिशप्त विचारधारा।

हिन्दी दलित साहित्य को उभरे अभी ज्यादा समय नहीं हुआ है और डॉ० पी० एन० सिंह को इसमें कथात्मक थकान दिखायी देने लगी है। हिन्दी साहित्य में व्याप्त पूर्वाग्रही जड़ता और ब्राह्मणवादी सोच हावी है। उस पर उनका ध्यान नहीं जाता है। क्या इस तरह की मानसिकता के साथ किसी भी रचना का चाहे वह दलित रचना हो या गैर दलित उसका सही-सही मूल्यांकन हो सकता है?

यही स्थिति राम प्रकाश कुशवाहा की है, वे भी हिन्दी दलित साहित्य की तुलना अमरीकी और दक्षिण अफ्रीकी लेखन से करते हैं। बिना यह जाने कि रंगभेद और वर्णभेद निर्मित शोषण के तरीकों में गहरा अंतर है। यदि राम प्रकाश कुशवाहा को दलित साहित्य अस्वाभाविक लगता है तो इसके पीछे की पृष्ठभूमि और संस्कारों की पड़ताल जरूरी है, क्योंकि भारत में ऐसे करोड़ों लोग हैं जो अपने व्यवहार में जातिवादी हैं, लेकिन 'जातिवाद' के अस्तित्व से ही इंकार करते हैं। डॉ० पी० एन० सिंह भी दलित पहचान को अप्रासंगिक मान रहे हैं।

इन स्थितियों में तथाकथित मुख्यधारा के आलोचकों के जो निष्कर्ष होंगे वे भी पूर्वाग्रहों से भरे-पूरे ही होंगे। उनसे तटस्थ और निरपेक्ष आलोचना की उम्मीद नहीं करना चाहिये।

इस मुद्दे पर निर्मला जैन का यह तर्क ध्यान देने योग्य है- एक दूसरे की नीयत पर संदेह साहित्यिक जातिवाद पैदा करता है। दलित साहित्य की अवधारणा मुख्य रूप से दलित-सवर्ण संघर्ष के साहित्य के रूप में विकसित हुये हैं। इस दृष्टि से इसकी मूल्यवत्ता इस संघर्ष की धार के पैनेपन पर निर्भर रहती है। दलित रचनाओं के मूल्यांकन का यह प्रतिमान उसे परम्परागत साहित्यिक ढांचे से अलग करता है।²

कुछ लोग साहित्य में अनुभूति की प्रमाणिकता के मुद्दे को बहुत जोर-जोर से उठाते हैं और पक्ष-विपक्ष में टूटी जंग लगी तलवारे भांजने लगते हैं। बड़े-बड़े उद्धरण देकर अपने पक्ष को स्थापित करने का प्रयास किये जाते हैं। फिर भी सवाल अपनी जगह वैसा ही बना रहता है। मेरा मानना है कि किसी भी लेखक को लेखक, संवेदना और सरोकार बनाते हैं और बिगाड़ते हैं। कल्पनाशीलता की दरकार रचना को विस्तार देने के लिये जरूरी है लेकिन रचनाकार के सरोकार उसे भटकने, दिशाहीनता से रोकते हैं। हिन्दी साहित्य में निर्मल वर्मा का सधा हुआ कलात्मक गद्य पढ़ने वाले को अपने प्रभाव से बाँध लेता है। उसी तरह अमृत लाल वेगड के यात्रा संस्मरण नर्मदा नदी के सौंदर्य की जो निर्मिति करते हैं, वहाँ प्रतीक और बिम्ब अद्भुत है। गद्य को कविता के मुहावरों में चमत्कारिक ढंग से परिवर्तित कर देने की भाषायी कला में वे बेजोड़ हैं, लेकिन इन दोनों रचनाकारों से लोक जीवन के सरोकार गायब हैं जो दूर-दूर तक दिखायी नहीं देते। वेगड के वर्णन में नदी है, लेकिन नदी किनारे बसे जीवन की जिजीविषा, संघर्ष जैसे कोई महत्त्व नहीं रखते हैं। क्या साहित्य में यह सब गौण माना जाना चाहिये?

मुख्यधारा के ये लेखक जीवन अनुभवों, पारिवारिक स्थितियों, संस्कारों, सामाजिक मान्यताओं से कन्नी काट कर निकल जाते हैं। जिस वातावरण में रचनाकार रहता है, वह उसके लिये अप्रासंगिक क्यों हो जाता है? उसका अक्स रचनाओं में आना क्यों जरूरी है? शिल्प और भाषा के जादुई स्पर्श से साहित्य की सामाजिकता को दरकिनार कर देना एक छद्म है, जो सौंदर्य बोध का हिस्सा नहीं बन पाता है

साहित्य सिर्फ आनन्द, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रयोजन से नहीं रचा जाता है, वहाँ मानवीय चिंतार्य, सरोकार, विकास यात्रा, संवेदनशीलता ही सर्वोपरि होने चाहिये। तभी साहित्य समाज का सही-सही आइना बन पायेगा। यदि साहित्य सामाजिक जीवन का हिस्सा नहीं बनता है, उसके सुख-दुख, संघर्ष को रेखांकित नहीं करता है, तो वह सिर्फ बौद्धिक दुनिया का ही हिस्सा बनेगा, जमीनी सच्चाई से कई मीटर ऊपर जहाँ मानवीय संवेदनाओं का कोई अस्तित्व ही नहीं होता।

मैनेजर पाण्डेय के संदर्भ में यदि कहें- '....प्रेमचंद और निराला की दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं को देखा जा सकता है। लेकिन सारी सहानुभूति, करुणा, सहृदयता और परकाया प्रवेश की कला के बावजूद गैर दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गये साहित्य में कला चाहे जितनी हो, परंतु अनुभव की वह प्रामाणिकता नहीं होती है, जो किसी भी दलित द्वारा अपने समुदाय के बारे में स्वानुभूति की पुनर्रचना से उपजे साहित्य में होती है।'³

साहित्य जब समाज से उदासीन होकर अपना बौद्धिक प्रलाप करता है तो वह समाज में घट रही तमाम स्थितियों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं को भी अनदेखा करता है। यही कारण है कि अपनी तमाम साहित्यिक उत्कृष्टताओं, शिल्प, कलात्मक, भावात्मक सौंदर्यबोध के हिन्दी साहित्य में रीतिकाल, छायावाद, भक्तिकाल अप्रासंगिक हो जाते हैं। क्योंकि इस काल के रचनाकार सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों से तटस्थ दिखायी देते हैं। अपने समय की बड़ी से बड़ी घटनाओं पर वे चुप्पी साधे हुए हैं। साहित्य समाज को सुलाने का नहीं जगाने का काम करता है और यह सारा व्यापार मुख्यधारा के नाम पर हुआ है। समाज में कुछ और ही हो रहा है, जबकि साहित्य किसी और दिशा में जा रहा है।

यही स्थिति भक्तिकाल के महान रचनाकारों में भी दिखाई देती है। लोक-मंगल के नाम की अवधारणा की हिन्दी आलोचकों ने बहुत विस्तृत व्याख्यायें दी हैं। लेकिन तुलसीदास का जो 'लोक' है, वह कौन है यह? बताने की कहीं कोशिश नहीं है वहाँ दलित, स्त्री के प्रति तुलसी की लोकमंगल की अवधारणा क्या है? वर्ण-व्यवस्था के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या है? क्या यह जानना 'लोकमंगल' की अवधारणा से बाहर है? वह तटस्थता जो समयकाल के प्रति निष्क्रियता भाव है, किसके पक्ष में जाता है, यह जानना क्यों जरूरी नहीं है?

आधुनिक युग में भी हिन्दी कवियों में अधिकांश अपने समय के यथार्थ से टकराने के बजाय रसरंग, प्रकृति-चित्रण, अतीत यशोगान आदि में डूबे हुए थे। लाला जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' की इन पंक्तियों को देखें-

देस-देस मैं मचति मंजु मन मादक होरी।

उड़त अबीर गुलाल चोटा सों भरि-भरि झोरी।

कोटि भनुगति गर्व खर्व करिधाई गंगा।

पिता गेह तजि व्योम नीधि मधि आई गंगा।

इसी तरह महावीर प्रसाद द्विवेदी की कविता (द्रोपदी वचन वाणी वली से) एक अंश देखें

द्विज भोजन से बचा हुआ, शुचि

षटरस अन्न, पुष्टिकारी

खाकर जिसने इस शरीर को पहले किया मनोहारी

भूप, वही तू आज उदर निज

तनफल खाकर भरता है

यश के साथ देह भी अपनी

हा, हा, हा, कृश करता है

निराला का हिन्दी कविता में विशिष्ट स्थान है, वर्ग-संघर्ष का कवि प्रगतिशील, जनवादी आदि विशेषणों से निराला जी को सम्बोधित किया जाता है। उनकी रचनाएँ - 'वह तोड़ती पत्थर', 'जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाओ', 'चतुरी चमार', 'कुल्ली भाट', 'कुकुरमुत्ता' आदि रचनाओं के आधार पर उन्हें दलित चेतना संवाहक प्रचारित करने की कोशिश भी होती है। लेकिन निराला जी वेदांती हैं, शंकर के अद्वैत दर्शन से प्रभावित हैं, तुलसीदास के भक्त हैं, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के प्रति आस्थावान हैं 'राम की शक्ति पूजा' जैसी संस्कृतनिष्ठ शास्त्रीय कर्मकांडी रचना लिखते हैं। 1922 में पंजाब में संतराम बी०० जी ने 'जांत-पांत' तोड़कर मण्डल की स्थापना की थी। निराला जी ने उनका विरोध किया था क्योंकि निराला जी 'वर्ण-व्यवस्था' के कट्टर समर्थक थे। (देखें 'चाबुक' निबन्ध संग्रह)

मुख्यधारा के कवियों और दलित कवियों में जो भेद है, वह रचनाओं के यथार्थ और संवेदना के स्तर पर है। एक उदाहरण देखें-

औरतें बांधे हुए उरोग

पोटली के अन्दर है भूख

आसमानी चट्टानी

ढो रही है पत्थर की पीठ

लाल मिट्टी लकड़ी ललछोट

कटोरे के पेंदे में भात
गोद में लेकर बैठा बाप
फर्श पर रखकर अपना पुत्र
खा रहा है उसको चुपचाप

रघुवीर सहाय

इस कविता में गरीबी का चित्रण है। जिसे मार्मिक नहीं कहा जा सकता है। यह उद्वेलन पैदा नहीं करता। यह सिर्फ एक चित्र है जो दूर से देख कर खींचा गया है। जिसमें सहानुभूति है लेकिन 'चेतना' नहीं है।

अब एक बानगी कविता की देखें-

कच्चे घर में
जलते दिये की रोशनी पर
कब्जा करके बैठ गये तुम

...

..

मेरी पिंडलियों,
और भुजाओं के मांस से बनी बाती
हड्डियों से निचोड़कर
निकाला गया तेल

किंतु इतना याद रखो
जिस रोज इन्कार कर दिया
दीया बनने से मेरे जिस्म ने
अंधेरे में खो जाओगे
हमेशा-हमेशा के लिये!

उपरोक्त पंक्तियों में दलित जीवन की दारुण, दग्ध स्थितियों का चित्रण है और आक्रोश से भरी हुई दलित चेतना जो साफ-साफ दिखाई पड़ती है। दलित कविता की यह भावभूमि मुख्यधारा से भिन्न है।

दलित समाज उत्पादन से जुड़ा हुआ है। इसलिये प्रकृति, श्रम और उत्पादन इन तीनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है जिसकी संरचना में दलित गुथा हुआ है। कृषि कार्य, कारखाने, कपड़ा मिलें, चमड़ा उत्पादन, सफाई कार्य आदि ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जहाँ दलित समाज ने अपनी विशेष योग्यता हासिल की है। जबकि गैर दलित इन सब कार्यों से विरत रहने के बावजूद इनकी महत्ता को भी नकारते हैं। इसलिये गैर दलित साहित्य में जब कृषि, मिल मजदूर, श्रमिक किसान, पशुपालन आदि का चित्रण होता है, वह कल्पना आधारित तथ्य होते हैं, जिनका संबन्ध यथार्थ जीवन से नहीं होता है।

भारतीय इतिहास में सुधारवाद की लम्बी परम्परा है। आर्य समाज भी एक सुधारवादी आंदोलन ही था, जो स्थापित मान्यताओं, मूल्यों, आदर्शों में कोई बदलाव नहीं चाहता था, बल्कि सामाजिक रिश्तों में यथास्थिति बनाये रखने के लिये कुछ सुधार चाहता था। जैसे गाँधी चाहते थे- अस्पृश्यता मिटे लेकिन वर्ण-व्यवस्था बनी रहे। आर्य समाज अस्पृश्यता के मुद्दे पर थोड़ी ढील देने के हक में था। लेकिन सामाजिक संरचना में वेदों की महत्ता को स्थापित रखना, वर्ण -व्यवस्था के बनाये रखना, आदि उनके मानक मूल्य थे। संतों में भी ऐसी ही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसीलिये सामाजिक परिवर्तन की जो उत्कृष्ट भावना डॉ० अम्बेडकर के बाद दिखायी देती है। वह वहाँ नहीं है। 'हरि को भजे सो हरि का होय' जैसे सूत्र वाक्य हैं। लेकिन सामाजिक जीवन में उनका कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता है, बल्कि धार्मिक ग्रंथों में दलितों के प्रति जो अस्पृश्यता का भाव मौजूद है, वही समाज में स्थापित रहा है। जिसके कारण सामाजिक जीवन में दलित के लिये अपमान, तिरस्कार, गाली, प्रताड़ना आदि ही स्थापित होते गये हैं। जिसके नियम इतने कड़े थे कि दलित न सम्पत्ति रख सकता था, न

विकास करके अपनी वर्णीय स्थिति बदल सकता था। आज भी ऐसी स्थितियाँ घटित होती हैं। हरियाणा के सालवन-कांड (1 मार्च, 2007), एवं गोहाना कांड (31 अगस्त, 2005) में दलितों के विकास को अवरूद्ध करके उनकी अर्जित सम्पत्तियों को नष्ट किया गया। उनके घर में आग लगा दी गयी। लूटपाट की गयी, वह भी दिन-दहाड़े पुलिस की मौजूदगी में, जहाँ प्रशासन की भूमिका असहाय दिखाई दी। लोकतंत्र बेमानी नजर आया। यही नहीं भारत के प्रत्येक कोने में दलितों के साथ यही व्यवहार मुख्यधारा के लोग कर रहे होते हैं। यानि मुख्यधारा अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिये दलितों के उन तमाम मूल्यों, आदर्शों, उनकी सांस्कृतिक विरासत, उनकी प्रकृति आधारित मान्यताओं को नकारती है और सामाजिक समरसता को बाधित करती हैं।

भक्तिकालीन मुख्यधारा का यर्थाथ

हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा को ऐतिहासिकता के आधार पर भी जब देखते हैं, तो वहाँ भी स्थिति भिन्न नहीं है। हिन्दी साहित्य में छायावाद और भक्तिकाल महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भक्तिकालीन साहित्य का जो रूप हम देखते हैं, वह बाह्य हैं उसके आंतरिक संघर्ष विश्लेषण जरूरी हैं

भक्तिकालीन संतो, कवियों ने भारतीय जीवन में रची-बसी जाति-व्यवस्था का विरोध तो किया, लेकिन जाति-व्यवस्था मानने वालों पर कोई असर नहीं हुआ। डॉ० अम्बेडकर लिखते हैं- जहाँ तक संतों का प्रश्न है, तो मानना पड़ेगा कि विद्वानों की तुलना में संतों के उपदेश कितने ही अलग और उच्च हों वे सोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे, वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं। पहला किसी भी संत ने जाति-व्यवस्था पर कभी भी हमला नहीं किया- इसके विपरीत वे जात-पात की व्यवस्था के पक्के विश्वास पर रहे। उनमें अधिकतर उसी जाति के होकर जिये और मरे, जिसके वे थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सारे मनुष्य बराबर हैं, परन्तु यह शिक्षा दी कि ईश्वर की सृष्टि में सारे मानव समान है। दूसरा कारण यह था कि संतो की शिक्षा प्रभावहीन रही, क्योंकि लोगों को पढ़ाया गया कि संत जाति का बंधन तोड़ सकते हैं, लेकिन आदमी नहीं तोड़ सकता। इसीलिये संत अनुसरण करने का उदाहरण नहीं बने।⁴

साहित्य की मुख्यधारा समय के संघर्ष से बच कर निकलने का उपक्रम अपनी शास्त्रीय भाषा को मोहरा बनाकर करती है। मुगलकाल या उससे पूर्व मुस्लिम शासकों, सुल्तानों, खिलजी वंश, तुगलक वंश, अफगान आदि के काल में कहीं भी विरोध या सामूहिक संघर्ष दिखाई नहीं देता है। न राजनीति में, न साहित्य में, न समाज में कहीं-कहीं छिटपुट घटनायें होती हैं, जो सिर्फ निजी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये होती हैं, या पारस्परिक वैमनस्य के कारण सामूहिक संघर्ष का नितांत अभाव दिखाई पड़ता है जो वर्ण-व्यवस्था की देन है क्योंकि वर्ण-व्यवस्था सिर्फ शूद्रों, अंत्यजों, अस्पृश्यों को ही अलग-अलग नहीं करती बल्कि द्विज कही जाने वाली जातियों को भी एक दूसरे से दूर रखने के कारण बनती है, जो किसी भी सामूहिक प्रयास के विरुद्ध जाती है। यही स्थिति मुगलकाल में दिखायी देती है। भारतीय क्षत्रप दूसरे क्षत्रपों को पराजित करने में मुगल शासकों का साथ देते हैं चाहे वे राजस्थान के राजा महाराजा हों या दक्षिण भारत के।

मुगलकालीन भारत में हिन्दू जनता यदि त्रस्त थी तो क्या ब्राह्मण-वर्ग भी उसकी भाँति पीड़ित और त्रस्त था? पुष्टिमार्गी ग्रंथ 'भय सिंधु' में जो तथ्य उपलब्ध हैं, वे बताते हैं कि वल्लभाचार्य दिल्ली जाकर न केवल हुमायूँ से मिले थे, अपितु उनसे यथोचित दक्षिणा भी प्राप्त की थी। अकबर के शासन में भी वल्लभाचार्य (1478-1530) के बाद उनके छोटे पुत्र गुसाई विठ्ठलनाथ (1515-1585) को, स्वामित्व के लिये पारिवारिक झगड़े से विजयी होने के बाद, पुष्टिमार्ग की गद्दी मिल गयी थी। शम्सुल उल्मा मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आजाद' लिखते हैं- सौर और चन्द्र, दोनों गणनाओं के अनुसार जब-जब उनकी (अकबर की) वर्षगाँठ पड़ती थी, तब-तब उत्सव होता था। उस समय तुलादान भी होता था। बादशाह सात अनाजों और सात धातुओं आदि का तुलादान करता था। ब्राह्मण बैठ कर हवन करते थे, और सब चीजों की गठरी बाँध कर आशीर्वाद देते हुये घर जाते थे।⁵

ब्राह्मणों के लिए अकबर का समय स्वर्णकाल कहा जायेगा। पुष्टिमार्ग ने तो सबसे अधिक वैभव इसी काल में बटोरा प्रतिद्वंदी सम्प्रदायों को दबाने में वल्लभ सम्प्रदाय अपने राजकीय सम्पर्कों का सहारा लिया करता था।

बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं कि शासन सत्ता के वल्लभ सम्प्रदाय के एक प्रमाण वे फरमान भी हैं, जो

अकबर और शाहजहां आदि के द्वारा जारी किये गये थे। ये फरमान पुष्टिमार्गी मंदिरों में सुरक्षित रखे गये थे। बम्बई हाई कोर्ट के जज रहे श्री कृष्ण लाल मोहन लाल झावेरी ने इन फरमानों को संकलित करके अपनी टिप्पणी के साथ 1928 में छपवाया था। इन फरमानों में कहा गया है कि 'पवित्र जनेऊ धारण करने वाला 'विट्ठलराय 'बिला शुबह हमारा शुभ चिंतक है। गोकुल और उसके आसपास की जमीन विट्ठल राय के नाम तथा 'नसल दर नसल' आने वाली तमाम पीड़ियों के नाम माफी की गयी हैं। ये सभी फरमान सन् 1577 से 1875 तक के बीच के हैं।

साहित्य की तो और भी ज्यादा दयनीय स्थिति है। मुगल सल्तनत के सबसे बड़े शासक अकबर के समकालीन तुलसीदास कहीं पर यह नहीं दिखाते कि भारत मुगलों के अधीन गुलाम है। जब हिन्दी के सबसे बड़े कहे जाने कवि की यह स्थिति है, तो बाकि का क्या होगा। इसीलिये हिन्दी साहित्य हमेशा अपने समय और काल से कटा हुआ दिखायी देता है। समय की प्रतिध्वनि वहाँ सुनायी नहीं पड़ती है।

यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि भक्ति काल की साहित्यिक रचनाओं और कवियों तुलसी, कबीर, सूर, मीरा, दादू, चोखमेल, तुकाराम, रैदास आदि ने सामाजिक परिदृश्य में गहरी छाप नहीं छोड़ी थी। आज भी यदि हिन्दी में सर्वमान्य रचनायें हैं, तो वे इसी काल की रचनायें हैं। इस मान्यता के बरक्स यह भी निष्कर्ष विद्वानों ने निकाला कि इस दौर के रचनाकार राजनीतिक सत्ता के प्रति निरपेक्ष भाव रखते थे। लेकिन बजरंग बिहारी तिवारी यहाँ सवाल उठाते हैं- 'क्या वे कोई समान्तर सत्ता प्रतिष्ठान नहीं रहे थे? इस प्रश्न का उत्तर हमें तब प्राप्त होता है, जब हम इस आन्दोलन के उदय के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ध्यान देते हैं।⁷

बजरंग बिहारी तिवारी का यह भी मानना है- 'जिसे हम गौण संघर्ष के रूप में देखते हैं, वह मुख्य संघर्ष से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं, केन्द्रिय है। 'मुख्य संघर्ष' में संघर्ष कम है, उसका छद्म अधिक। यह कहना कि बाहरी शक्ति से किया जाने वाला संघर्ष ही केन्द्रिय संघर्ष होगा, सभी प्रसंगों में सच नहीं होता। आंतरिक संघर्ष से ध्यान हटाने के लिये बाह्य संघर्ष का वितान ताना जाता है। निर्गुण-सगुण विवाद की अहमियत को कम करके आंकना इसी मन्शा का परिणाम हो सकता है।⁸

उपरोक्त उद्धरण में बजरंग बिहारी तिवारी ने आंतरिक संघर्ष की महत्ता के भक्तिकालीन संदर्भों में गम्भीर विवेचना और विश्लेषणात्मक दृष्टि के साथ रखा है, लेकिन यहाँ यह सवाल भी उठता है कि भक्ति काल के इस दौर में राजनीतिक परिदृश्य में इन कवियों, भक्तों, संतो और सम्प्रदायवादियों की प्रत्यक्ष भी कोई सक्रियता थी? वाद-विवाद या विचार गोष्ठियों से जनमानस को किस दिशा में ले जा रहे थे? क्या इस आंतरिक संघर्ष ने किसी बाह्य संघर्ष को विकसित किया और जन मानस में दासता के विरुद्ध मुक्ति की चाहत के लिये कोई भूमि तैयार करने में कोई सार्थक भूमिका निभाई?

भक्ति काल की दो प्रमुख धाराओं के बीच गहरा अंतर है। सगुण और निर्गुण धाराओं के रचनाकारों के सम्बन्धन भी अलग हैं। सगुण धारा के भक्त कवि हैं और निर्गुण धारा के संत कवि। ये नामकरण उनकी रचनाओं और रचना में निहित उद्देश्यों के आधार पर किया गया है।⁹

निर्गुण धारा के कवियों विशेष रूप से कबीर और रैदास की रचनाओं में अंतर्निहित सामाजिक विद्रोह दलित लेखक के लिए प्रेरणा दायक हैं। उससे दलित लेखक ऊर्जा ग्रहण करते हैं। लेकिन यह दलित लेखन का आदर्श नहीं है। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान आकर्षित करता है कि कबीर, रैदास, पलटू आदि ने जिस तरह ब्राह्मणी- धर्म का विरोध किया था, वह उस काल में एक बड़ी चुनौती थी, जिसे इन कवियों ने स्वीकार किया, पलटू की रचनायें दहकते अंगारों के समान हैं, जो आज भी प्रासंगिक हैं जातिविहीन, समता मूलक समाज की परिकल्पना को सुदृढ़ करने का आधार बनाया था। वे वर्णाश्रम विरोधी थे। इसीलिये अनेक विद्वान इस धारा को बौद्ध मत, सिद्ध सम्प्रदाय से जोड़ कर देखते हैं, क्योंकि सामाजिक परिवर्तन एक लम्बी जद्दोजहद और प्रक्रिया के तहत ही सम्भव होते हैं।

मैनेजर पांडेय ने कहा - भक्ति आंदोलन और उसके साहित्य में अभिव्यक्त अनुभव, विचारधारा और सांस्कृतिक चेतना.....में सामंती समाज व्यवस्था और उसकी विचारधारा के मानव विरोधी रूपों तथा परिणितियों का बोध है, उनका चित्रण है और उनके विरुद्ध विद्रोह भाव भी है।¹⁰

भक्तिकाल को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान के शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था। कहा है यह निष्कर्ष यही दर्शाता है कि हारे हुए लोगों का पलायन था भक्ति आंदोलन जिसे मुख्य धारा कहा गया है।

यहाँ एक और तथ्य पर ध्यान जाता है कि भक्तिकाल के बाद हिन्दी में 'रीति काल' का उदय होता है। क्या इसके पीछे भक्ति कालीन निरपेक्ष भाव की ही परिणति नहीं थी। यह एक तरह का पलायन ही कहा जायेगा। जो साहित्य की भूमिका पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देता है।

भक्तिकालीन और रीतिकालीन रचनाओं के अंतर्द्वंद्वों को समझने या समझाने में भी आलोचकों ने कम रूचि दिखाई है। बल्कि आपसी झगड़ों में ही ज्यादा डूबे रहे। बजरंग बिहारी तिवारी भी भारतेन्दु के संदर्भ से इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। भारतेन्दु वैष्णव सम्प्रदायों की आपसी कटुता से आहत होकर लिखते हैं- यद्यपि अनेक आचार्यों ने इसी आशा से मत प्रवृत्त किया कि इसमें सब मनुष्य समानता लाभ करें और परस्पर खानपानादि से लोगों में एक्य बढ़े और किसी भी जाति, वर्ण, देश का मनुष्य क्यों न हो, वैष्णव पंक्ति में आ सके। किन्तु उन लोगों की यह उदारता इच्छा भली भाँति पूरी नहीं हुई, क्योंकि स्मार्त मत की और ब्राह्मणों की विशेष हानि के कारण इस मत के लोगों ने इस समुन्नत भाव को रोक दिया, जिससे अब वैष्णवों में ही ऐसा उपद्रव पफैला कि एक सम्प्रदाय के वैष्णव दूसरे सम्प्रदाय को अपनी मन्दिर में और खान-पान में नहीं लेते थे, और 'सात कन्नौजिया, नौ चूल्हे' वाली मसल हो गयी।¹¹

बजरंग बिहारी तिवारी उपरोक्त संदर्भों में जो निष्कर्ष निकालते हैं, उनसे बहुत-सी तथ्यपूर्ण मान्यताओं का खुलासा होता है। वे लिखते हैं- 'भारतेन्दु वैष्णव सम्प्रदायों में छुआछूत की जिस प्रवृत्ति को उन्नीसवीं शताब्दी का परवर्ती बदलाव मानते हैं और उसे उनकी 'अवनति' कहते हैं। वह प्रवृत्ति इन सम्प्रदायों के शुरुआती गठन से जुड़ी है। तमाम वैष्णव सम्प्रदायों की गद्दियों मुक्ति की कम, सत्ता की प्रेरणा से अधिक संचालित थी। इनकी आपसी होड़-होड़ी से जिस तरह की रंजिश पनपती थी। उसकी परिणति कई बार हत्या और रक्तपात में भी दिखाई पड़ती है।'¹²

मुख्यधारा का यह पक्ष बेहद डरावना और हिंसात्मक है। जिस पर विद्वानों को विस्तृत विवेचना करनी चाहिये थी, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। इससे साहित्य और समाज दोनों का अहित हुआ है। इस अध्ययन में बजरंग तिवारी एक और गम्भीर सवाल उठाते हैं- 'मध्य काल के धर्म-सम्प्रदायों और नवजागरण के 'समाजों' (आर्य समाज, ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज) का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये। नवजागरण के ये समाज आपस में किस तरह का संबन्ध बनाते हैं और इनका मध्यकालीन धर्म-सम्प्रदायों से किस तरह का रिश्ता बनता है।'¹³

भक्ति काल में विभिन्न सम्प्रदायों के बीच घोर कट्टरता देखने को मिलती है, लेकिन फिर भी आलोचक तुलसीदास को समन्वयवादी कहते हैं। शैव और वैष्णव के बीच उनके मतभेद छिपे नहीं हैं। जातिगत आग्रह भी उनके प्रबल हैं-

अधम जाति में विद्या पाये

भयहूँ जथा अहि दूध पियाये।।

मानी कुटिल कुभाग्य कुजाति।

(मानस, उत्तराखंड, दोहा, ६०)

रामानुज के संदर्भ में भंडारकर लिखते हैं- 'अंतिम वर्षों में एक समकालीन चोल राजा ने उन्हें क्लेश दिया। वह शैव धर्म के लिए उनसे वैष्णव धर्म का त्याग कराना चाहता था। फलस्वरूप उन्होंने 1096 ई० में होयसल यादव राजाओं के राज्य में शरण ली।'¹⁴

सवीरा जयसवाल का मानना है- 'गुप्तकालीन वैष्णव तथा शैव मत दोनों ही भक्ति, ब्राह्मणों में प्राधिकार एवं वर्ण व्यवस्था पर आधारित थे।'¹⁵

गुप्त काल के बाद वैष्णवों और शैवों में आपसी प्रतिद्वंद्विता थी। जो दसवीं सदी में खूनी संघर्ष में तब्दील हो गयी। वैष्णव ब्राह्मणों से तथा शैव शूद्रों से सम्बद्ध थे।

सद्यःकृत द्विज शिरः पंकजार्चित भैवे।

न ध्वस्ता लोक मर्यादा काना कपालिका धर्मैः¹⁶

(तुरंत काटे गये ब्राह्मण के सिर रूपी कमलों से भैरव की पूजा करने वाले कापालिकों ने किस लोक मर्यादा को ध्वस्त नहीं किया।)

विलियम आर० पिंच भी इसी तरह का उद्धरण देते हैं- 'वैष्णवों ने शैवों के बढ़ते आक्रमण से मुकाबला करने के लिए अपने को सशस्त्र किया'¹⁷

कहा जाता है कि कोई ब्राह्मण यदि शैव होता तो उसे भी शूद्र मान लिया जाता है, यानि समाज में भेदभाव और अधिक बढ़ गया था। मध्य काल की यह सबसे बड़ी विशेषता है, जिस पर आलोचकों ने पर्दा डालने की कोशिश की है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय का उत्पीड़न कर रहा था। इसीलिये बजरंग बिहारी तिवारी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं- कि 'हमारी धर्मसत्ता ने अपने शक्ति विमर्श में हिन्दू-मुस्लिम राजसत्ताओं में अंतर नहीं किया'¹⁸

आलोचकों ने इस काल की वास्तविकताओं को झुठला कर जो तथ्य और निष्कर्ष स्थापित किये, वे सच्चाई से कोसों दूर थे। सच तो यह है कि रामानन्दी, कबीरपंथी, नानकपंथी, वैष्णव मत आदि के बीच गहरे वैमनस्य थे। इसीलिये इन सम्प्रदायों में लगातार झगड़े होते रहे हैं। लेकिन आलोचकों ने 'समन्वयवाद' का ऐसा परचम लहराया कि वास्तविकता कहीं खो गयी।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे संस्कृति के पैरोकार भी ऐसे ही विचार रखते हैं।- 'अपने देश के सांस्कृतिक इतिहास में व्यापक मौलिक एकता भरी हुई है ऐतिहासिक वही सच्चाई है जो भेदों के नीचे छिपी हुई ऐक्य विद्यायिनी सांस्कृतिक पद्धति को पहचान कर उसका उद्घाटन करने में अपना मन लगाता है'¹⁹

यह एकता दिखाने का अर्थ है 'वर्चस्ववाद' को स्थापित करना...यही मुख्यधारा की हकीकत भी है, जिस पर विद्वानों को पुनर्विचार करना होगा। इस मुख्यधारा में 'समाज' की चिंतयें कभी शामिल नहीं रही हैं।

मुख्यधारा के हिंदुत्व का यह चेहरा आज भी ज्यों का त्यों है, जो एक ओर अमेरिकापरस्त है तो दूसरी ओर छद्म राष्ट्रवाद, संस्कृतिवाद का पैरोकार भी है। ये तथ्य मुख्यधारा के रहस्य को समझने के लिये मदद करते हैं।

मुख्यधारा के ये अलमबरदार, मठाधीश, वर्चस्ववादी एक ओर मुगलकालीन सत्ता संरक्षण आर्थिक सहायता प्राप्त करने के तमाम हथकण्डे अपनाते हैं, दूसरी ओर अपनी पवित्र पूजनीय छवि बनाकर मुसलमानों के प्रति घृणा पैदा करता रहे हैं... जो आज भी जारी है।

इतिहासकार स्टैब्वर्ट गोडॉन ने कहा है- 'शुरू से ही ब्राह्मणों के विभिन्न गुट मुसलमानों की सेवाओं में लगे थे, और कार्य संचालन में उनकी अहम भूमिकायें थीं। यहाँ यह उल्लेख करना भी जरूरी है, कि शासन सत्ता का संरक्षण पाने के बाद इन 'सत्पुरुषों' ने विरोधी 'पाखंडपूर्ण प्रयत्नों' पर अंकुश लगाने के लिये सरकारी आदेश कराये। अकबर बादशाह की ओर से यह आज्ञा हुई कि बहुत छोटी जातियों के लोगों को विद्या न पढ़ाई जाये, क्योंकि वे विद्या पढ़ कर बहुत अनर्थ करते हैं।

बादशाह से यह भी सुनिश्चित कराया गया कि हिन्दुओं के मुकद्दमों के निर्णय के लिए ब्राह्मण नियुक्त हों, उनके मामले मुकद्दमों बाजियों और मुफ्तियों के हाथ न पड़े। इस प्रकार ब्राह्मणवादी ताकतों ने यह पक्का बन्दोबस्त कर लिया ताकि उनके वर्चस्व को चुनौती देने वाली सामाजिक शक्तियाँ समय रहते कुचल दी जायें। पारम्परिक भारतीय मानस तो उनके पक्ष में था ही। सरकारी मशीनरी को अनुकूल बनाने का उनका उद्यम भी सफल रहा। सामाजिक बदलाव की जो सम्भावनायें बन रही थी, वह अगर बिल्कुल खत्म नहीं हुई तो काफी लम्बे समय तक के लिये दबा दी गयी थी।

भक्तिकालीन साहित्य मुस्लिम काल से संघर्ष से पलायन का साहित्य है। हिन्दू धर्म से इस्लाम में धर्म परिवर्तन से जनता को रोकने का काम भी भक्ति कालीन साहित्य ने बखूबी किया है। हिन्दू संतों के अधःपतन और मुस्लिम संतों के उभार के इस काल में समाज के विभिन्न वर्णों, शूद्रों, अतिशूद्रों, अंत्यजों, स्त्रियों के प्रवक्ता भी उभरने लगे थे। हिन्दू धर्म-सत्ता के दमन-चक्र पर इस्लामिक आक्रमण ने भी अंकुश लगाया था। इसीलिये इस काल में शूद्रों, अतिशूद्रों के प्रवक्ता, कलाकार कवि, बुद्धिजीवी परिदृश्य पर उभर सके। इस थोड़े

से काल में ही समाज की सृजनात्मकता सामने आ गयी थी। इसीलिये भक्तिकालीन साहित्य को संक्रमण कालीन साहित्य कहना ज्यादा उचित होगा। यह युद्धकालीन साहित्य है, लेकिन प्रश्न स्वाभाविक तौर पर उठता है कि इस दौर के साहित्य को जैसा होना चाहिये था, क्या वह वैसा है? या सिर्फ पलायनवादी बनकर रह गया है।

बाबुराव बागूल लिखते हैं- “युद्ध काल में जन्मा साहित्य पूर्ण रूपेण वर्ण-व्यवस्था द्वारा स्थापित वैचारिकता और साहित्यिक आदर्शों में बंध कर रह गया है। संस्कृत साहित्य द्वारा स्थापित संकल्पना, आदर्शों, सिद्धान्तों व नायक और शोषण दमन के तत्वों को संत साहित्य ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया और अभिव्यक्त किया। शोषण व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था इससे और अधिक मजबूत हुई। जाति व्यवस्था और उससे उपजी मानसिकता को इस्लाम ने भी स्वीकार कर लिया। संतों की भक्ति समाज में समता भाव पैदा करने में असमर्थ रही है। उनके द्वारा की गयी व्याख्यायें आदर्श रूप बन कर समाज में अपना प्रभाव नहीं जमा पायी। भक्ति मार्ग सर्वत्र फैला, लेकिन भक्त गणों का समूह जाति-व्यवस्था में ही फंसा रहा। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, आत्मवाद, देववाद आदि की मान्यतायें और अधिक गहराती गयी। जिससे यथास्थिति वाद को बढ़ावा मिला, जो भी होता है ईश्वर की मर्जी से होता है”- की भावना ज्यों की त्यों बनी रही। हिन्दू सामंतवाद की वैचारिकता और सामाजिक व्यवस्था भारतीय समाज में जैसी थी, वैसी ही बनी रही।”²⁰

इस्लाम के बाद ब्रिटिश शासन के दौर में जो औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात भारत में हुआ। इससे भारतीय उत्पादन में भी बदलाव के संकेत दिखायी दिये। यूरोप, अमेरिका की वैचारिक, सामाजिक, धार्मिक मान्यतायें भी साथ आयीं। जिसका प्रभाव भारतीय साहित्य पर भर पड़ा और आधुनिक साहित्य का उद्भव हुआ। आरम्भिक दौर के साहित्य में आध्यात्मिक पारलौकिक, धार्मिक विषयों के साथ सामाजिक विषय भी शब्दबद्ध हुए।

जिनका पहले ‘धर्म-दंड-सत्ता के समाज में वर्चस्व था, वे ही अर्थ-सत्ता, धर्म-सत्ता, दंड-सत्ता पर काबिज थे। वे ही उच्चवर्णीय अपने पारिवारिक प्रश्न लेकर सामाजिक आंदोलनों में जैसे पहले थे, वैसे ही लेखक, कवि, के रूप में आते गये। मंचों पर सभी गोष्ठियों में उनके पारिवारिक प्रश्न चर्चा में बने रहे। इस चर्चा में हिन्दू धर्म की समीक्षा होती रही। जो सैकड़ों साल से हो रही हैं, इसमें यदि सुधार की सम्भावनायें होती तो निःसन्देह मानसिक प्रगति जरूर होती। लेकिन साहित्य की मुख्यधारा में कलावादी, सौंदर्यवादी रचनाकारों का प्रभुत्व बना रहा। इसीलिये दुख दारिद्र्य, दासता, विषमता, भेदभाव, सामाजिक विद्वेष उनकी शब्द सामर्थ्य की अभिव्यक्ति से बाहर ही रहा। यही मुख्यधारा का यथार्थ है। जिसमें दलित और स्त्री के लिये न कोई सहानुभूति है, न उनके जीवन के प्रति संवेदनात्मक अभिव्यक्ति। इसीलिये दलित, स्त्री उनके लिये अपवित्र ही रही, पांव की जूती या फिर जन्मना असभ्य।

बाबुराव बागूल ने कहा है - ‘असंख्य अवतार हुए, संत आये, परन्तु शूद्र-अतिशूद्र व स्त्रियों के दुःख किसी को दिखाई नहीं दिये। देव, संत और धर्म जब गरीब, कमजोर लोगों के प्रति शत्रुता और तुच्छ भाव प्रकट करते हैं, तब हिन्दू पौराणिकता और संस्कारों में शूद्रों के प्रति कैसे विचार होंगे? यानि समाज और मन में कहाँ जगह होगी? हिन्दू वर्ण-व्यवस्था में करुणा, प्रेम, भ्रातृत्व नहीं होने के कारण शूद्र-अतिशूद्र के लिये समाज और साहित्य में स्थान नहीं था, उनके उद्धार के लिए कोई रास्ता किसी ने नहीं सोचा, किसी ने उनके बीच जाकर उन्हें स्वीकार नहीं किया।’²¹

इसीलिये जिसे आज मुख्यधारा कहा जा रहा है, वह हिन्दू वर्ण-व्यवस्था, सामंतवाद, ब्राह्मणवाद की वह धारा है जहाँ दलित और स्त्री के लिये कोई स्थान नहीं है। यह कटुसत्य है, जो साहित्य और समाज में मौजूद है। संस्कृत साहित्य में राजवंशों की विरुदावली, राजाओं के देवत्व, उनकी प्रशंसा करने वाले साहित्य की भरमार है, जो मुख्यधारा का केंद्रीय भाव रहा है। इसी धारा में दलितों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों को जोड़ने की बात जोर शोर से की जाती है। जिसका उद्देश्य वर्चस्ववाद को स्थापित करना है, यही है मुख्यधारा का यथार्थ।

संदर्भ

१. डा. पी.एन. सिंह - हिन्दी दलित साहित्य: कुछ शंकायें, कुछ सम्भावनायें, सृजन सम्वाद, अंक-6, सित., 2006, सम्पादक-बृजेश, लखनऊ, पृष्ठ-205-206 २. निर्मला जैन-दलित प्रसंग: विमर्श और साहित्य, कथादेश, अक्तू. 2005, नई

शोध संचयन

SHODH SANCHAYAN

ISSN 2249-9180 (Online)

ISSN 0975-1254 (Print)

RNI No.: DELBIL/2010/31292

**Bilingual journal
of Humanities &
Social Sciences**

Half Yearly

Vol-1, Year-1,

15 Jan-2010

**मुख्यधारा के
यर्थाथ**

- ओम प्रकाश वाल्मीकि

दलित साहित्य के संस्थापक
साहित्यकार, C-52 आर्डिनेन्स
फैक्ट्री स्टेट, देहरादून,
उत्तराखण्ड

www.shodh.net

दिल्ली, सम्पादक-हरिनारायण, ३. डा. मैनेजर पाण्डेय - दलित चेतना साहित्य, नवलेखन प्रकाशन, पृष्ठ-4 ४. डा. अम्बेडकर-1979:87 ५. बजरंग बिहारी तिवारी - मध्यकालीन सत्ता विमर्श, साहित्य का नाया सौंदर्यशास्त्र (सम्पादक-देवेंद्र चौबे), प्रकाशक - किताबघर, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ-245 ६. वही ७. वही ८. वही ९. बजरंग बिहारी तिवारी - संत मत और दलित लेखन, कथदेश, मार्च, 2007 पृष्ठ-65 १०. डा. मैनेजर पाण्डेय - भक्ति आंदोलन की परम्परा और सूरदास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, प्रथम संस्करण की भूमिका. ११. बजरंग बिहारी तिवारी - साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र, पृष्ठ-246 १२. वही १३. वही, पृष्ठ-277 १४. भंडारकर - भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-5, एस.एन. दासगुप्ता, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1989, पृष्ठ-434 १५. सुवीरा जायसवाल-वैष्णव धर्म का उदभव और विकास पृष्ठ-167-168 १६. विद्यारण्य माधवा चार्य-शंकर दिग्विजय, पृष्ठ- 12-13 १७. विलियम आर.पिंच- जीजेंट्स एण्ड मोंक्स इन ब्रिटिश इण्डिया, 1996 पृष्ठ-27 १८. बजरंग बिहारी तिवारी - तदभव, अक्टू. 2001 सम्पादक - अखिलेश, लखनऊ १९. वासुदेव शरण अग्रवाल-इतिहास दर्शन, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, 1978, पृष्ठ-1 २०. बाबुराव बागूल - दलित साहित्य:आज्चे क्रांति विज्ञान, 1981, दिशा प्रकाशन, विहितगांव, नाशिक रोड, पृष्ठ-11 २१. वही, पृष्ठ-13

शोध.
संचयन
SHODH SANCHAYAN